भारतीय ज्ञान प्रणाली उद्‌गम और विकास

सम्पादक :

डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

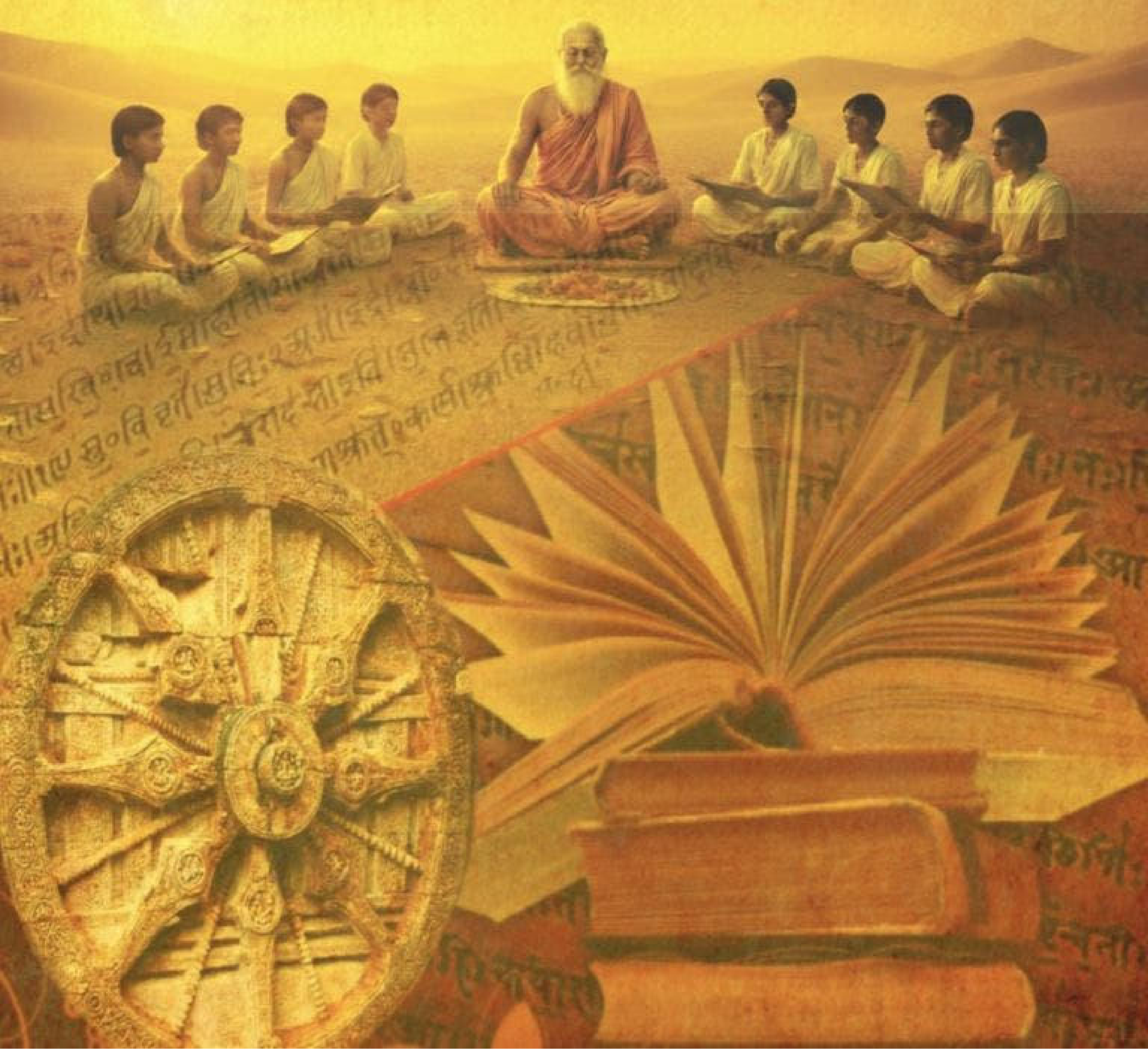

भारतीय ज्ञान प्रणाली
उद्गम और विकास

सम्पादक :

डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

Ph.D., D.Lit. (Sub.)

निदेशक, कॉम्पिटिशन प्लस ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन,
अजमेर

Books n Books

51/1509, आचमन, वेदविहार,
लोहाखान, अजमेर-305001

प्रकाशक :

पुष्पा शर्मा

Books n Books

51/1509, आचमन, वेदविहार,

लोहाखान, अजमेर-305001

ई-मेल : bnbajmer@gmail.com

मो. 9660111549

संस्करण

प्रथम 2026

ISBN : **978-81-993854-1-2**

मूल्य - 400/-

रचना - भारतीय ज्ञान प्रणाली-उद्गम और विकास

सम्पादक - डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

आवरण - श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

मुद्रक

श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

12

भारतीय ज्ञान परम्परा की शिक्षा तथा कला कौशल

पिंकी सांखला

सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)

हुकुमचन्द नोबेल इंस्टीट्यूट ऑफ साईंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

भारतीय ज्ञान परम्परा में शिक्षा और कला कौशल का स्वरूप अत्यंत समृद्ध, विस्तृत और सर्वांगीण था। यह केवल शास्त्रों का ज्ञान अर्जित करने तक सीमित नहीं था, बल्कि शिष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व, उसके चरित्र, मानसिक शक्ति, शारीरिक क्षमता और आध्यात्मिक चेतना के विकास का माध्यम था। प्राचीन विद्वानों और वेदों के अनुसार, शिक्षा का मूल उद्देश्य शिष्य के जीवन को सर्वथा समृद्ध, सुखद और सौभाग्यपूर्ण बनाना था। इसे केवल जानकारी या पुस्तक ज्ञान तक सीमित न करके, इसे जीवन में व्यवहारिक और चरित्रपरक रूप में आत्मसात करने का महत्व दिया गया।

शिक्षा के साथ-साथ विवेक या सुमति का समन्वय अत्यंत आवश्यक माना गया। यह विवेक शिष्य को सही और गलत का भान कराता, उसे निर्णय लेने की क्षमता देता और ज्ञान को व्यवहार में लागू करने का मार्ग दिखाता। इसलिए कहा गया कि शिक्षा में केवल सरस्वती (ज्ञान) का स्थान नहीं, बल्कि धी (विवेक) का भी होना आवश्यक है।

इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्राचीन शिक्षा-पद्धति में दो प्रमुख साधनों का प्रयोग बताया गया—तप और दीक्षा। तप का अर्थ है कठोर अनुशासन, आत्मनियंत्रण और साधना। इसके माध्यम से शिष्य अपने मन और इंद्रियों को नियंत्रित करना सीखता और ज्ञान ग्रहण करने के लिए योग्य बनता। दीक्षा का अर्थ है पूर्ण समर्पण और गुरु के मार्गदर्शन में आत्मसमर्पित होना। केवल इस संयोजन से ही शिक्षा का वास्तविक लाभ संभव था।

गुरु और शिष्य दोनों में उच्च चरित्र और संयम के गुणों को अनिवार्य माना गया। वेदों में बुद्धि (चतुराई और समझ), मेधा (धारणा शक्ति), सुमति (विवेक

और श्रेष्ठ सोच) को शिक्षा का आधार बताया गया। इन गुणों की प्राप्ति के लिए कई मंत्रों में प्रार्थनाएँ की गई हैं। विशेष रूप से 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' का उल्लेख मिलता है, जिसे केवल योगियों और महर्षियों को प्राप्त होने वाली अद्वितीय चेतना कहा गया। यह प्रज्ञा सूर्यवत् तेजस्विता प्रदान करती है, जो शिष्य के सम्पूर्ण विकास में सहायक होती है।

भारतीय शिक्षा में विषयों की व्यापकता यह दर्शाती है कि शिष्य का विकास केवल मानसिक या शास्त्रीय ज्ञान तक सीमित नहीं था, बल्कि इसमें शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक सभी पक्षों का समावेश था। उदाहरण स्वरूप, प्राणायाम और योगविद्या से शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य का विकास होता, शस्त्रास्त्र विद्या और मल्ल विद्या से शारीरिक क्षमता और साहस का प्रशिक्षण मिलता, आयुर्वेद से स्वास्थ्य और जीवन प्रबंधन का ज्ञान होता, धनुर्वेद से युद्धकला और सुरक्षा कौशल का विकास होता, गणित से तार्किक क्षमता और गणनात्मक शक्ति आती, और ज्योतिष से जीवन के महत्वपूर्ण निर्णयों और समय के प्रबंधन की समझ मिलती।

भारतीय ज्ञान परम्परा में शिक्षा का स्वरूप अत्यंत विस्तृत और समग्र था। अथर्ववेद, गोपथ ब्राह्मण और छान्दोग्य उपनिषद् में शिक्षा के विषयों का उल्लेख मिलता है, जिनमें छान्दोग्य उपनिषद् की सूची सबसे व्यापक मानी जाती है। यह सूची दर्शाती है कि प्राचीन शिक्षा का क्षेत्र केवल धार्मिक या शास्त्रीय ज्ञान तक सीमित नहीं था, बल्कि इसमें शारीरिक, मानसिक, तार्किक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास के सभी पक्ष सम्मिलित थे।

छान्दोग्य उपनिषद् में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद को अध्ययन के मूल आधार के रूप में लिया गया। इसके अतिरिक्त इतिहास और पुराणों के अध्ययन से शिष्य को समाज, संस्कृति और प्राचीन घटनाओं की जानकारी प्राप्त होती थी। वेदांगों का अध्ययन भाषाशास्त्र, छन्द, कल्प, निरुक्त और ज्योतिष आदि के माध्यम से शिष्य की तार्किक क्षमता, स्मृति और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रबल करता था। पितृविद्या और राशि-विद्या जैसे विषय न केवल पारिवारिक और सामाजिक ज्ञान को विकसित करते थे, बल्कि गणित और खगोलशास्त्र की समझ भी प्रदान करते थे।

दैव-विद्या और निधिविद्या प्राकृतिक घटनाओं और संसाधनों के ज्ञान से शिष्य को पर्यावरण और जीवन प्रबंधन में दक्ष बनाती थी। वाकोवाक्य, एकायन और देवविद्या जैसे विषय तर्कशक्ति, नैतिक विवेक और धार्मिक कर्मकांड में कुशलता प्रदान करते थे। ब्रह्मविद्या शिष्य को आत्मज्ञान और अध्यात्म के मार्ग पर अग्रसर करती थी,

जबकि भूतविद्या और क्षत्रविद्या जीवन और युद्धकला से सम्बन्धित ज्ञान प्रदान करती थीं। नक्षत्र-विद्या, सर्पविद्या और देवजनविद्या खगोलशास्त्र, विष विज्ञान और कला कौशल में दक्षता देती थीं।

इस व्यापक विषय-सूची से स्पष्ट होता है कि शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञान अर्जित करना नहीं था, बल्कि शिष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व, बुद्धि, विवेक, संयम, साहस और आध्यात्मिक चेतना के विकास का था। शिष्य केवल कुछ चुने हुए विषयों का अध्ययन कर सकता था, किन्तु उसका चयन उसकी योग्यता, रुचि और धैर्य पर निर्भर था।

निरुक्तकार यास्क ने भी इस दृष्टि को स्पष्ट किया है कि विद्या एक बहुमूल्य निधि है और यह केवल योग्य, जिज्ञासु, संयमी, अप्रमादी, मेधावी और गुरु के प्रति निष्ठावान शिष्यों को ही दी जानी चाहिए। अयोग्य व्यक्ति को यदि विद्या दी जाए तो उसका लाभ नहीं होता। उन्होंने कहा कि केवल वही विद्याएँ फलदायी होती हैं, जो शुद्ध, सतर्क, मेधावी और ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले शिष्य को प्रदान की जाएँ। इस प्रकार भारतीय ज्ञान परम्परा ने शिक्षा को केवल ज्ञान के संचय तक सीमित न रखते हुए, उसे नैतिक, मानसिक, शारीरिक और आध्यात्मिक विकास का समग्र साधन बनाया।

भोज्य-पान पदार्थ :

भारतीय ज्ञान परम्परा में अन्न-पान और भोज्य-पेय पदार्थों का विस्तृत विवरण मिलता है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन समाज में भोजन न केवल पोषण का साधन था, बल्कि स्वास्थ्य, संस्कार और धार्मिक अनुष्ठानों का भी महत्वपूर्ण हिस्सा था। यजुर्वेद और तैत्तिरीय संहिता में अन्नों का उल्लेख विस्तार से किया गया है। इनमें मूल अन्नों के रूप में धान, जौ, उड़द, तिल, मूँग, चना, कंगुनी, पतला चावल, साँवा, कोदों या तिन्नी धान, गेहूँ और मसूर शामिल थे। तैत्तिरीय संहिता में इनके अतिरिक्त चार अन्य अन्नों का उल्लेख मिलता है—काला धान, साठी धान, संभवत: बासमती चावल और जंगली गेहूँ।

भोज्य पदार्थों में घृत, दुग्ध, दही और मक्खन के अतिरिक्त पूआ, हलुआ, मधुपर्क, सत्तू, जौ की लप्सी, गाढ़ी दही, भुने दाने, खीर, मूँग की खिचड़ी, रोटी, शहद, मट्ठा, चावल के आटे का लड्डू, गन्ना और गन्ने का रस, भुने चने आदि का प्रयोग होता था। अथर्ववेद में विशेष रूप से दूध और दही से बने व्यंजनों के लिए क्षीरवान्, दधिवान्, द्रप्सवान्, रसवान्, मधुमान्, मधुपर्क आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। सोमरस बनाने में दूध, दही और जौ का सत्तू मिलाकर 'आर्शि' तैयार किया जाता

था, जिसमें दूध मिश्रित को गवाशिरं, दही मिश्रित को दध्यार्शि और जौ मिश्रित को यवार्शि कहा जाता था। इनके सम्मिलित रूप को 'त्र्यार्शि' कहा गया।

दालों में मूँग, उड़द और मसूर की प्रमुखता थी। जौ का प्रचलन अधिक था, जबकि गेहूँ कम प्रयोग में आता था। पेय पदार्थों में मुख्य रूप से सोम और गव्य (दूध, दही, मट्ठा) का सेवन होता था। सुरा का प्रयोग असुरों के लिए विशेष रूप से उल्लेखित है और ऋग्वेद में इसे द्यूत आदि के तुल्य और त्याज्य बताया गया है।

फल–वेदों में विभिन्न फलों का विवरण मिलता है, जैसे बेल, गूलर, पिलकना, बेर, ककड़ी या तरबूज और पीपल का फल। इन अन्न, भोज्य, पेय और फलों का विस्तृत वर्णन यह दर्शाता है कि प्राचीन भारतीय समाज में भोजन केवल भक्षण का साधन नहीं था, बल्कि यह स्वास्थ्य, पोषण, सांस्कृतिक परम्परा और आध्यात्मिक अनुष्ठानों का अभिन्न अंग था।

वस्त्र और परिधान :

वैदिक काल में वस्त्र और परिधान का स्वरूप अत्यंत व्यवस्थित और सांस्कृतिक दृष्टि से समृद्ध था। वेदों से ज्ञात होता है कि उस समय वस्त्र उद्योग काफी उन्नत था और वस्त्र बनाने का मुख्य कार्य स्त्रियों द्वारा किया जाता था, जो पति और पुत्रों के लिए वस्त्र तैयार करती थीं। वैदिक ग्रंथों में वस्त्रों को तीन प्रकारों में वर्गीकृत किया गया है—सूती, रेशमी और ऊनी। सूती वस्त्र के लिए 'वासस्' शब्द का प्रयोग होता था, जबकि रेशमी वस्त्र के लिए 'ताप' शब्द इस्तेमाल होता था। रेशमी वस्त्र पा नामक पौधे के तंतुओं से बनते थे। गोल्डस्टूकर और एलिंग ने भी 'ता' शब्द का अर्थ रेशमी वस्त्र या शोमवस्त्र बताया है। ऊनी वस्त्र के लिए 'ऊर्णायु' शब्द प्रयुक्त हुआ, और ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में ऊन के कोमल वस्त्रों के लिए 'ऊर्णप्रदस्' शब्द मिलता है।

सामान्यत: प्राचीन काल में दो प्रकार के वस्त्र व्यवहार में थे—वास्त्र का अधोभाग 'वासम्' और ऊपरी भाग को ढकने वाला वस्त्र 'अधिवास'। अधिवास को 'अधीवास' भी कहा जाता था। इसके अतिरिक्त ऊपर से ओढ़ने वाली हल्की चादर को 'अधिवल' कहते थे, जिसे स्त्रियाँ अपने मुख्य वस्त्रों के ऊपर डालती थीं। हल्की चादर के लिए 'पर्याणहन' शब्द प्रयुक्त होता था। पेटीकोट या अन्तर्वस्त्र के लिए 'नीवि' शब्द आता है, जिसे स्त्रियाँ पहनती थीं।

शरीर के ऊपरी भाग को ढकने के लिए दो प्रकार के वस्त्र प्रचलित थे। पहला ढीला चोगे जैसा वस्त्र, जिसे रैपर की तरह ओढ़ा जाता था, इसके लिए 'पर्याणहन', 'अधिवास' और 'उपवासन' शब्द प्रयुक्त होते थे। दूसरा प्रकार शरीर से चिपकने

वाले सिले हुए वस्त्र, जैसे कुर्ते, के लिए 'प्रतिधि' और 'अत्क' शब्द प्रचलित थे। चोगे के लिए 'द्रापि' शब्द आया, और यदि इसमें सोने के तार का काम होता तो उसे 'हिरण्यद्रापि' कहा जाता था। बेल-बूटे कढ़े हुए परिधान को 'पेशस्' कहते थे। ऋग्वेद और अथर्ववेद में इसका उल्लेख है और 'हिरण्यपेशस्' शब्द दम्पतियों द्वारा पहनने वाले ऐसे भव्य वस्त्रों के लिए प्रयुक्त होता था।

यजुर्वेद में उन स्त्रियों का उल्लेख है, जो सोने के तार का काम करती थीं और बेल-बूटे कढ़ाई करती थीं, उन्हें 'पेशस्कारी' कहा गया। ब्राह्मण ग्रंथों में यज्ञ आदि धार्मिक अनुष्ठानों के अवसर पर यजमान को मृगचर्म और कुशा से बने वस्त्र पहनने का विधान मिलता है। सिर पर पगड़ी बाँधने की प्रथा प्रचलित थी, और पगड़ी के लिए 'उष्णीष' शब्द प्रयुक्त होता था। तैत्तिरीय संहिता और शतपथ ब्राह्मण में जूते के लिए 'उपानह' शब्द का उल्लेख मिलता है।

आभूषण :

वैदिक काल में आभूषणों का महत्व अत्यंत उच्च था और वेदों में इनके विस्तृत वर्णन मिलते हैं। आभूषणों को दो प्रकारों में विभक्त किया गया—मणिजटित और मणिरहित। मणियों और रत्नों का विशेष महत्त्व था, और रत्नों को धारण करने वाले को 'रत्नधा' या 'रत्निन्' कहा जाता था। मणिबन्धन या रत्नजटित आभूषणों का विशेष सांस्कृतिक और धार्मिक महत्व था।

सुवर्ण (सोने) आदि धातुओं से बने आभूषणों में कई प्रकार प्रमुख रूप से प्रचलित थे। 'निष्क' गले में पहनने वाला सोने का आभूषण था, और इसे पहनने वाले को 'निष्कग्रीव' कहा जाता था। यह दूतों और क्षत्रियों द्वारा धारण किया जाता था। 'रुक्म' छाती पर लटकने वाला गोलाकार सोने का आभूषण था, जिसे पहनने वाले को 'रुक्मवक्षस्' या 'रुक्मिन्' कहा जाता था। मरुतों को भी इसे पहनते हुए वर्णित किया गया है। 'हिरण्य' या 'हिरण्यहस्त:' हाथ में पहना जाने वाला कंकण या कंगन होता था। कानों के आभूषण के लिए 'प्रवर्त' शब्द प्रयोग में आता था, जिसे श्रौतसूत्रों में कर्णाभरण कहा गया है और तैत्तिरीय संहिता में इसे कान का बूंदा बताया गया है। ऋग्वेद में सोने के बने कान के आभूषण को 'कर्णशोभन' कहा गया।

रत्नजटित गले के आभूषणों को 'मणिमाला' कहा जाता था, जिसे पुरुष और स्त्री दोनों पहनते थे और इसे पहनने वाले को 'मणिग्रीव' कहा जाता था। 'काशर्न' उन आभूषणों के लिए प्रयुक्त शब्द है जिनमें कृशन (मणि) जटित सोने का प्रयोग होता था। 'खादि' पैर में पहना जाने वाला आभूषण था, जिसे ऋग्वेद में मरुत देव के संदर्भ में उल्लेखित किया गया है।

अथर्ववेद में स्पष्ट किया गया है कि सोने और चाँदी के आभूषणों को धारण करने से मनुष्य दीर्घायु होता है और अकाल मृत्यु से बचकर वृद्धावस्था तक जीवित रहता है। इस प्रकार वैदिक समाज में आभूषण केवल सजावट का माध्यम नहीं थे, बल्कि उनका धार्मिक, सांस्कृतिक और स्वास्थ्य संबंधी महत्त्व भी अत्यंत उच्च था।

गृह निर्माण :

वैदिक काल में गृह निर्माण केवल आवास के साधन तक सीमित नहीं था, बल्कि यह सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी अत्यंत महत्व रखता था। वेदों में गृह को कई शब्दों से व्यक्त किया गया है—गृह, आयतन, वास्तु, पस्त्या, हर्म्य, दुरोण आदि—जो घर की विभिन्न विशेषताओं और उसके उपयोग को दर्शाते हैं। अथर्ववेद के सूक्त 3.12 और 9.3 में गृहनिर्माण की प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन मिलता है, जिसमें दो कमरे से लेकर दस कमरे तक के मकान बनाने का उल्लेख है।

निर्माण के लिए विशेष शब्दों का प्रयोग किया गया है। 'उपमित' से यह निर्देश मिलता है कि मकान का निर्माण नक्शे और योजना के अनुसार हो। 'प्रतिमित' मकान के नापतोल और माप के सटीक निर्धारण का सूचक है। 'परिमित' शब्द द्वार, खंभे और अन्य वास्तुकला तत्वों के यथास्थान विन्यास को दर्शाता है। कमरे आवश्यकतानुसार दो से दस तक बनाए जाते थे। मंत्रों में विशेष रूप से इन कमरों का निर्माण अनिवार्य बताया गया है—हविर्धान (राशन का कमरा), अग्निशाला (यज्ञशाला और रसोई), पत्नी-सदन (पत्नी का कक्ष), सदस् (अतिथि स्वागत या ड्राइंग रूम), और देवसदन (अतिथि कक्ष)।

वेदों में दिव्य और भव्य महलों का भी उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में वरुण के स्वर्ण-निर्मित प्रासाद का वर्णन है, जो तालाब के मध्य स्थित था। इसमें सहस्त्रद्वार यानी हजार दरवाजे और सहस्त्रस्थूण यानी हजार खंभे लगे थे, जो महल की विशालता और वैभव का परिचायक थे।

अथर्ववेद और यजुर्वेद में वातानुकूलित भवनों का भी उल्लेख मिलता है। ऐसे भवन तालाब के बीच में बनाए जाते थे और उनके चारों ओर बर्फ की पतली परत लगाई जाती थी। भवन के अंदर ठंड से बचने के लिए अग्नि की व्यवस्था की जाती थी। यजुर्वेद (17.5 और 17.7) में भी इसी प्रकार के वातानुकूलित भवन का वर्णन है। ऋग्वेद में ऐसे भवनों का उल्लेख तीनों ऋतुओं—गर्मी, सर्दी और वर्षा—में सुखद रहने योग्य 'त्रिधातु' या त्रिभूमिकम् तिमंजिला भवन के रूप में किया गया है।

नगर और ग्राम :

वैदिक साहित्य में नगर और ग्राम का स्वरूप स्पष्ट रूप से वर्णित है और यह प्राचीन समाज की प्रशासनिक, वास्तुशिल्पीय और आर्थिक संरचना को उजागर करता

है। नगर के अर्थ में 'पुं' और 'पुर' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। पाश्चात्त्य विद्वानों ने 'पुं' को दुर्ग या किले के रूप में व्याख्यायित किया है। तैत्तिरीय संहिता में 'त्रिपुर' और 'महापुर' शब्द मिलते हैं। त्रिपुर संभवत: तिहरी सुरक्षा वाली दीवारों वाला नगर था, जबकि महापुर विशाल नगर के लिए प्रयुक्त होता था। अथर्ववेद में नगरों के निर्माता देवगण बताए गए हैं, जिससे यह संकेत मिलता है कि देवों में भी उच्चकोटि के शिल्पी या वास्तुज्ञ थे। ऋग्वेद में असुरों के पत्थर के किलों (पुं) का वर्णन मिलता है, जिन्हें इन्द्र ने नष्ट किया। इसी प्रकार, लोहे और सोने के किलों का भी उल्लेख है, जिससे यह ज्ञात होता है कि उस समय वास्तुविद्या और धातुशिल्प में अत्यंत दक्षता थी। असुरों के किले भी लोहे और सोने के बने होते थे, और उनके मुख्य द्वार भी इसी धातु से निर्मित होते थे।

राजाओं के महल को 'हर्म्य' कहा जाता था। ऋग्वेद और अथर्ववेद में राजा वरुण और मित्र के स्वर्ण प्रासाद का वर्णन मिलता है, जिसमें सौ खंभे लगे हुए थे और प्रासाद में हजारों दरवाजे (सहस्रद्वार) थे। इस विवरण से वैदिक काल में नगरों और महलों की विशालता और वैभव का अंदाजा लगाया जा सकता है।

ग्रामों का स्वरूप भी व्यवस्थित था। वैदिक मंत्रों में ग्राम का उल्लेख मिलता है, और इनमें सभा तथा समितियों की व्यवस्था होती थी। ग्राम के प्रमुख को 'ग्रामणी' कहा जाता था, जिसका विधिवत् अभिषेक होता और वह राजकृत, अर्थात् राजा के निर्वाचकों में एक होता था। ग्रामणी का पद सम्माननीय और महत्वपूर्ण माना जाता था।

ग्रामों में विभिन्न पेशेवर और शिल्पकार भी रहते थे। गृहशिल्प, निर्माण कार्य और दैनिक आवश्यकताओं की व्यवस्था में तक्षा (बढ़ई), कुलाल (कुम्हार), कर्मार (मिस्त्री), वप्ता (नाई), सुनार, लोहार, भिषज् (वैद्य), वासोवाय (जुलाहा), मलग (धोबी) आदि सभी शामिल थे। स्त्रियाँ ऊन कातना, सूत कातना, वस्त्र बनाना, वस्त्रों को रंगना और बेल-बूटे का काम करना आदि करती थीं। ग्रामों की आजीविका का मुख्य आधार कृषिकर्म और दुग्ध-व्यवसाय था।

शयनासन और पात्र :

वैदिक काल में शयन और गृहोपस्कर का प्रयोग जीवन शैली और आराम-सुविधा के उच्च स्तर को दर्शाता है। फर्नीचर के लिए प्राचीन शब्द शयनासन और गृहोपस्कर प्रयुक्त होते थे। शयनासन का अर्थ था सोने और बैठने के लिए प्रयुक्त वस्तुएँ, जबकि गृहोपस्कर में घरेलू उपकरण और उपयोगी सामान शामिल था। शयनोपयोगी वस्तुओं में शयन (शय्या) मुख्य था, जिसे विश्राम और नींद के लिए

प्रयोग किया जाता था। प्रोष्ठ तख्त या बेंच के लिए था, तल्प बहुमूल्य पलंग के लिए प्रयुक्त होता था। वय पालकी या झूले के समान था, जिस पर स्त्रियाँ सोती भी थीं। कशिपु सोफा के लिए प्रयुक्त होता था और यदि वह सुवर्णजटित हो तो उसे हिरण्यकशिपु कहा जाता था। आसन्दी कुर्सी के लिए था, और ब्राह्मण ग्रंथों में इसका प्रयोग राजासन या सिंहासन के लिए भी हुआ। आसन शब्द बैठने के लिए प्रयुक्त चटाई या साधारण वस्त्र के लिए था।

वैदिक साहित्य में पात्रों और घरेलू बर्तनों का भी विस्तृत वर्णन मिलता है। मिट्टी के घड़े को कुम्भ और छोटे घड़े को कुम्भी कहा जाता था। धातु से बने कलश या गर्गर का प्रयोग भी प्रचलित था। आमपात्र मिट्टी से बने कच्चे बर्तन थे, जबकि पके बर्तन नीललोहित कहलाते थे। अमत्र पत्थर या लकड़ी की कुंडी होती थी, जो कटोरे का कार्य करती थी। कंस गिलास या जार के समान था। स्थाली और अंसध्री पतीली या भगोना के लिए प्रयुक्त होते थे। उखा मिट्टी से बनी हाँडी या कड़ाही के तुल्य था। भोजन परोसने के लिए चमस (बड़ा चमचा) और दर्वि या दर्वी (छोटी चम्मच) का प्रयोग होता था। रजतपात्र और अयस्पात्र क्रमशः चाँदी और लोहे के बर्तन थे। स्थिवि बड़ा मिट्टी का घड़ा या कुंडा था। उलूखल ओखली, शूर्प सूप, दृति चमड़े की मशक, चषक प्याला, तितउ चलनी, शिक्य छींका, मुसल मूसल और ऊर्दर अनाज नापने का बर्तन था। यज्ञ में घी डालने के लिए लकड़ी की चम्मच स्रुवा या स्रुचा प्रयुक्त होती थी। बभि छोटी पतीली या कटोरी थी।

यातायात के साधन :

वैदिक काल में यातायात के साधनों का स्वरूप बहुत व्यवस्थित और बहुआयामी था। प्रमुख यातायात साधन रथ था, जिसका उपयोग न केवल यात्रा के लिए, बल्कि युद्ध और क्रीड़ा के लिए भी होता था। रथों में दो, तीन या चार घोड़े तक जोड़े जाते थे। अथर्ववेद (20.127) में राजा परीक्षित के रथ में बीस ऊँटों के जोतने का उल्लेख मिलता है, जबकि अन्य स्थानों (8.8.22) पर अश्वतरी या खच्चरों से रथ के संचालन का वर्णन है। वेदों में रथ के प्रत्येक अंग—पहिया, नाभि, धुरी, रथ का ढांचा आदि— का विस्तार से वर्णन किया गया है, जिससे यह ज्ञात होता है कि वैदिक समाज में रथ निर्माण और उसका उपयोग अत्यंत परिष्कृत था।

रथ के अतिरिक्त अन्य यातायात साधनों में 'अनस्' अर्थात् बैलगाड़ी, शकट या सग्गड़ शामिल थे। इनका प्रयोग मुख्य रूप से कृषि उत्पाद, अन्न, इक्षु (ईख), कुश और अन्य भाड़े की वस्तुएँ ढोने के लिए होता था। इसके अतिरिक्त जलयान या पोत का उपयोग व्यापार, जलमार्ग यात्रा और वस्त्र, अन्न तथा अन्य वस्तुओं के परिवहन

के लिए व्यापक रूप से होता था। वेदों में बड़े जलयान और उनके उपयोग का उल्लेख कई मंत्रों में मिलता है।

निष्कर्षतः वैदिक समाज में जीवन का प्रत्येक क्षेत्र सुव्यवस्थित और समग्र था। शिक्षा का उद्देश्य शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास था। अन्न-पान में अनाज, दाल, दूध, घी, शहद और फल प्रमुख थे। वस्त्र सूती, रेशमी और ऊनी होते थे, आभूषण सोने, चांदी और रत्नजटित थे। गृह निर्माण में वास्तुशास्त्र और वातानुकूलन का ध्यान रखा जाता था। नगरों और ग्रामों में सुरक्षा, कृषि, शिल्प और प्रशासन व्यवस्थित थे। शयनासन और गृहोपस्कर फर्नीचर और बर्तन सुविधा और धार्मिक कार्यों के लिए बनाए जाते थे। यातायात में रथ, बैलगाड़ी और जलयान प्रयुक्त होते थे। कुल मिलाकर, वैदिक समाज भौतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक दृष्टि से संतुलित और व्यवस्थित था।

☆☆☆